4

दीक्षा में मण्डप-मण्डलादि का निर्माण

आचार्य शंकर के अनुसार 'दात्र् दाने तथा क्षि क्षये' इन दो धातुओं से निष्पन्न 'दीक्षा' शब्द का सामान्यार्थ एक ऐसी आध्यात्मिक क्रिया है, जिसमें व्यक्ति को दिव्यता प्रदान करने तथा त्रिविध तापों-पापों को नष्ट करने की सामर्थ्य होती है। साधक के मानवीय भावों में दिव्यता लाने तथा उसके दोषों को दूर करने के लिये किसी समर्थ गुरु द्वारा सम्पन्न विशेष क्रियाविधि को 'दीक्षा' कहा जाता है। जिस वर्ण या वर्ण-समूह के द्वारा उस वर्ण या वर्ण-समूह के वाच्य 'तत्त्व' के मनन से साधक का दैहिक, दैविक तथा भौतिक त्रिविध भय से त्राण (रक्षण) होता है, उस वर्ण या वर्ण-समूह को 'मन्त्र' कहा जाता है।

दद्याच्च दिव्यभावं क्षिणुयाद्दुरितान्यतो भवेद्दीक्षा ।
मननात्तत्त्वपदस्य त्रायते इति मन्त्रमुच्यते भयतः।।

(प्रपंचसारतन्त्र ५/२)

पद्मपाद के अनुसार दीक्षा में यह सामर्थ्य उसमें मन्त्रों के योग से आती है। दीक्षा और मंत्र में अटूट सम्बन्ध है।

दीक्षायाः सिद्धिदानसामर्थ्यं..दीक्षाया
अपि मन्त्रयोगसामर्थ्यहेतुरिति विवरणे।

दीक्षा के प्रकार

दीक्षा तीन प्रकार की होती है—आणवी, शाक्ती तथा शाम्भवी। आणवी दीक्षा को मन्त्रदीक्षा, शाक्तदीक्षा को शक्तिपात तथा शाम्भवी दीक्षा को वेधदीक्षा भी कहा जाता है। आणवी या मन्त्रदीक्षा में गुरु अपनी शक्ति से शिष्य के भीतर प्रवेश करके उसके प्रत्येक अंग में स्वर, स्पर्श तथा व्यापक वर्णों (अवर्ग, कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, पवर्ग तथा यवर्ग इन सात वर्गों) का यथाविधि एक-एक करके या सामूहिक रूप से न्यास कर शिष्य के अशुद्ध शरीर को निर्मल बनाता है। इसके बाद हवन आदि बाह्य विधानों का सम्पादन करके वह शिष्य को मन्त्र प्रदान करता है। शाक्तदीक्षा चाक्षुषी, स्पार्शी, वाचिकी तथा मानसी भेद से चार प्रकार की होती है। इस दीक्षा में गुरु अपनी दृष्टि, स्पर्श, वाणी अथवा मानसिक प्रभाव से अपनी शक्ति को शिष्य के शरीर में प्रवेश कराके कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत्

कर उसके शरीर को देवत्त्व प्रदान करता है। इन दीक्षाओं में शाम्भवी दीक्षा तीव्रतम दीक्षा मानी जाती है। इसमें गुरु दीक्षाकाल में ही शिष्य को जीव-ब्रह्मैक्य का अनुभव कराके उसे जीवनमुक्त बना देता है।

"तत्र आणवी दीक्षा अणुभिः मन्त्रैः क्रियमाणा अनेकविधा। तत्रोक्त चतुर्विधलिपिन्यासानामेकेन शिष्यशरीरमशुद्धं संहृत्य शुद्धं सृजेदिति न्यासरूपाणवीदीक्षाप्रकारः। होमादिपूर्वकं तूत्तरत्रभविष्यति। स्वशक्तिसूत्रेण शिष्यदेहं प्रविश्य तत्त्वसंहारं कृत्वा तं परदेवतारूपं भावयेदिति शाक्तदीक्षा..। सा च बहुप्रकारा चाक्षुषी स्पार्शी वाचिकी मानसीत्यादिद्वारभेदात्। शाम्भवी दीक्षा केवलस्वरूपस्थितिमात्रेण शिष्यसर्वदेहग्रसनरूपा.." इति प्रथमपटले विवरणकारः।

दीक्षामण्डप एवं वास्तुदेव-पूजन

शंकराचार्य ने मन्त्र-साधना के लिये शिष्य को दीक्षित करने हेतु दीक्षा-मण्डप तथा अर्चना-मण्डप के निर्माण की विधि का विस्तृत निरूपण किया है। दीक्षा-मण्डप निर्माण की विधि का आरम्भ वास्तुदेवताओं की अर्चना से होता है। आचार्य के अनुसार पुराकाल में यज्ञादि के सम्पादन के लिये मण्डप तथा गृहादि निर्माण में बाधा उत्पन्न करने वाला 'वास्तुपुरुष' नामक एक दैत्य था। उस वास्तुपुरुष को चतुरस्र (धरती) पर पटक उसके शरीर पर चढ़कर ५३ देवताओं ने उसका वध कर दिया था। मण्डप-निर्माण के आरम्भ में एक चतुरस्र (चतुष्कोण) यन्त्र का निर्माण करके उसमें उस वास्तुपुरुष का हनन करने वाले ५३ देवों की उनके लिये निर्धारित स्थान पर अर्चना करके उन्हें बलि प्रदान की जाती है।

अभवत्पुराऽथ किल वास्तुपुमानिति विश्रुतो जगदुपद्रवकृत्।
चतुरस्रसंस्थितिरसौ निहतो निहितः क्षितौ सुरगणैर्दितिजः।।
तद्देहसंस्थिता ये देवास्ते विश्रुतास्त्रिपंचाशत्।
मण्डलमध्येऽभ्यर्च्या यथा तथोक्तक्रमेण वक्ष्यन्ते।।

(वही, ५/५-६)

चतुरस्र(चतुष्कोण) पृथ्वी का प्रतीक है। इसके निर्माण के लिये पहले धरती को समतल करके उस पर आठ अष्टकों अर्थात् कुल ६४ छोटे चतुरस्रों वाला एक बड़ा चतुष्कोण बनाना चाहिये। फिर उन चौसठ कोष्ठों में वास्तु पुरुष

को मारने वाले तिरपन देवताओं की अर्चना करके उन्हें बलि प्रदान करनी चाहिये। इसके लिये उन ६४ चतुष्कोणों के मध्य में स्थित चार चतुष्कोणों को एक मान कर उसके बीच ब्रह्मा की पूजा करनी चाहिये। फिर उस ब्राह्म प्रकोष्ठ के चारों ओर के चार चतुष्कोष्ठकों (कुल १२ कोष्ठक) में क्रमशः आर्यक, विवस्वान्, मित्र तथा महीधर; इसके बाद चार उप दिशाओं के १६ कोष्ठकों में आग्नेय कोण में सावित्र, सविता, शक्र तथा इन्द्रजय; नैर्ऋत्य में रुद्र, रुद्रजय, आप् तथा वत्सक; वायव्य में शर्व, गुह, अर्यमा एवं जम्भक तथा ईशान कोण में पिलिपिच्छ, चरकी, विदारी तथा पूतना की स्थापना कर वासव (पूर्व), यम (दक्षिण), जलेश (पश्चिम) तथा शशि (उत्तर) दिशावर्ती बत्तीस कोष्ठकों में से पूर्व के कोष्ठों में ईशान, सर्पजन्य, जयन्त, शक्र, भास्कर, सत्य, वृष तथा अन्तरिक्ष की; दक्षिण के कोष्ठों में, अग्नि, पूषा, वितथ, यम, गृहरक्षक, गन्धर्व, भृंगराज तथा मृग; पश्चिम के कोष्ठों में निर्ऋति, दौवारिक, सुग्रीव, वरुण, पुष्पदन्त, असुर, शेष तथा उरग एवं उत्तर दिशा के कोष्ठों में वायु, नाग, मुख्य, सोम, भल्लाट, अर्गला, दिति तथा अदिति की अर्चना की जानी चाहिये।

कृत्वाऽवनिं समतलां चतुरस्रक्लृप्तामष्टाष्टकोष्ठतपदां च सकोणसूत्राम्।
तस्यां चतुष्पदसमन्वितमध्यकोष्ठे ब्रह्मा तु साधकवरेण समर्चनीयः।।
प्राग्याम्यवारुणोदग्दिक्कोष्ठचतुष्पदेषु समभियजेत्।
आर्यकमथ सविवस्वत्संज्ञमथ मित्रं महीधरं क्रमशः।।
कोणोद्वयार्थकोष्ठेष्वर्च्याः सावित्रसवितृशक्राह्वाः।
सेन्द्रजयरुद्रतज्जयसापश्च वत्सकस्तथाऽन्याद्याः।।
अस्रे पार्श्वोत्थपदे द्वन्द्वे शर्वं गुहार्यमणौ च यजेत्।
जम्भकपिलिपिच्छाख्यौ चरकिविदार्यौ च पूतना प्रोक्ता।।
अर्धपदाद्यन्तासु च चतसृषु दिक्षु क्रमेण बहिरर्च्याः।
वासवयमजलेशशशिनामष्टावष्टौ च मन्त्रिणा विधिना।।
ईशानाख्यः सपर्जन्यो जयन्तः शक्रभास्करौ।
सत्यो वृषोऽन्तरिक्षश्च देवताः प्रागुदीरिताः।।
अग्निः पूषा च वितथो यमश्च गृहरक्षकः।
गन्धर्वो भृंगराजश्च मृगो दक्षदिगाश्रिताः।।
निर्ऋतिर्दौवारिकश्च सुग्रीवो वरुणस्तथा।
पुष्पदन्तासुरौ शेषोरगौ प्रत्यग्दिगाश्रिताः।।

वायुर्नागश्च मुख्यश्च सोमो भल्लाट एव च ।
अर्गलाख्यो दितिस्तद्वददितिः सौम्यदिग्गताः।।
इतीरितानामपि देवतानां चित्राणि कृत्वा रजसा पदानि।
पयोऽम्भसा साधु बलिः प्रदेयो द्रव्यैश्च या तन्त्रविशेषसिद्धैः।।

(वही,५/७-१६)

वास्तुपूजन यन्त्र

ईशानकोण — पूर्व — आग्नेयकोण

पिलिपिच्छ	चरकी	ईशान	सर्पजन्य	जयन्त	शक्र	सावित्र	सविता
विदारी	पूतना	भास्कर	सत्य	वृष	अन्तरिक्ष	शक्र	इन्द्रजय
सोम	अदिति		आर्यक			गृहरक्षक	अग्नि
मुख्य	दिति	महीधर	ब्रह्मा		विवस्वान्	गन्धर्व	पूषा
नाग	अर्गला					भृङ्गराज	वितथ
वायु	भल्लाट		मित्र			मृग	यम
जम्भक	अर्यमा	उरग	शेष	असुर	पुष्पदन्त	आप	रुद्र
गुह	रोग	वरुण	सुग्रीव	दौवारिक	निर्ऋति	वत्सक	रुद्रजय

उत्तर (बायाँ) — दक्षिण (दायाँ)

वायव्यकोण — पश्चिम — नैर्ऋत्यकोण

(सन्दर्भ–प्रपञ्चसारतन्त्र - ५/७-१५ एवं ५/८-९ पर दीपिका)

मण्डप-निर्माण

वास्तुपूजा के उपरान्त सुन्दर, समतल, रोम तथा अस्थि आदि दूषित वस्तुओं को हटाकर साफ-सुथरी भूमि पर चार द्वारों वाला पुष्पमालाओं से युक्त, तोरणादि से सुसज्जित तथा वस्त्रावरणादि से चारों ओर से घिरा सुरक्षित नौ, सात अथवा पांच हाथ लम्बा मण्डप बनाया जाना चाहिये।

भूयो भूमितले समे विरहिते रोमास्थिलोष्टादिभिः,
कर्तव्यं नवसप्तपंचकमितैर्हस्तैः परीणाहतः।
युक्तं द्वारचतुष्ककल्पितपयोभूरुड्चतुस्तोरणं
दर्भस्रक्परिवीतमुज्ज्वलतरं स्यात्संवृतं मण्डपम्।। (वही, ५/१७)

बीज-वपन तथा मण्डल-रचना

उस मण्डप में दीक्षा वाले दिन से सात या नौ दिन पहले ही चार-चार पालिका (हांडी) परई तथा शरावों (पुरवा) में शाली, कंगु, श्यामाक, तिल, सरसों, मूंग, उड़द तथा खल्वाढकी आदि के बीज बीजमन्त्रों से अभिमंत्रित कर हल्दी-मिश्रित जल से अभिसिंचित करते हुए साधक के हाथ से बोये जाने चाहिये। बीज वाले उक्त शरावों (लघु घटों) के पास सात अथवा नौ रातों तक भूत, पितृ, यक्ष, नाग, ब्रह्मा तथा शिव को बलि प्रदान करनी चाहिये।

सप्ताहतो वा नवरात्रतो वा प्रागेव दीक्षादिवसाद् यथावत्।
सपालिकापंचमुखीशरावचतुष्टये बीजनिवापमुक्तम्।।
अन्यस्मिन् भवने सुसंवृततरे शुद्धे स्थले मण्डल
कुर्यात् प्राग्वरुणायतं पदचतुष्कोपेतमानूदरम्।
पीतारक्तसितासितं प्रतिपदं वह्न्यादिशर्वान्तिमं
याम्योदीच्यसमायतं प्रणिगदन्त्यन्ये च तन्मन्त्रिणः।।
वैष्णव्यस्त्वथ पालिका अपि चतुर्विंशांगुलोच्छ्रायका,
वैरिंच्यो घटिकास्तु पंचवदना द्व्यष्टांगुलोत्सेधकाः।
शैवाः स्युर्द्विषडङ्गुला अपि शरावाह्वा जलक्षालिताः,
सूत्रैश्च प्रकलय्य पंक्तिषु च ताः प्रोक्तक्रमाद् विन्यसेत्।।
पृथगपि शालीतण्डुलपूर्णासु सदर्भबद्धकूर्चासु।
मृद्वालुकाकरीषैः क्रमेण पूर्णानि तानि पात्राणि।।
शालीकंगुश्यामाकतिलसर्षपमुद्गमाषनिष्पावाः।
खल्वाढकिसमेता बीजानि विदुः प्ररोहयोग्यानि।।
प्रक्षाल्य तानि निवपेदभिमन्त्र्य मूलबीजेन साधकवरस्त्वथ पात्रकेषु।
विप्राशिषा च विधिवत्प्रतिपाद्यमानशंखादिमुख्यतरपंचमहास्वनैश्च।।
हारिद्राद्भिः सम्यगभ्युक्ष्य वस्त्रैराच्छाद्याऽद्भिः सिच्यतां पंचघोषैः।
सायंप्रातःशर्वरीषु प्रदद्यादुक्तैर्द्रव्यैस्तद्बलिं साधकेशः।।

(वही, ५/१८-२४)

बलि के लिये उपयुक्त पदार्थ

आचार्य के अनुसार लाजा, तिल, नक्तरज (हल्दी का चूर्ण), दही तथा सत्तू, भूतबलि के लिये; तिल-चावल (का मिश्रण) पितृ बलि के लिये; गूलर, धान तथा लाजा यक्ष बलि के लिये; केरोद (नारियल का पानी) तथा सत्तू की पीठी नागबलि के लिये; कमल तथा अक्षत ब्राह्मबलि के लिये; पुए शैवबलि के लिये तथा गुडौदन (गुड में पकाये चावल) वैष्णव बलि के लिये उपयुक्त द्रव्य हैं। लेकिन, यदि यज्ञ नौ दिनों का है, तो वैष्णव बलि के लिये कृशर (खिचड़ी) ही उपयुक्त है। जिसे भी बलि प्रदान की जा रही है उसके नाम में पहले 'ओम्' और अन्त में 'नमः' शब्द का प्रयोग किया जाना चाहिये।

भूतपितृयक्षनागब्रह्मशिवा देवताश्च विष्ण्वन्ताः।
ताभ्यः क्रमेण रात्रिषु सप्तसु नवसु वा तद्बलिर्देयः।।
लाजातिलनक्तरजोदधिशक्तवन्नानि भूतक्रूराख्यम्।
पैत्रं तिलतण्डुलकं सोडुम्बरिकधानलाजकं याक्षम्।।
केरोदशक्तुपिष्टं नागं पद्माक्षतं च वैरिंचम्।
अन्नापूपं शैवं गुडौदनं वैष्णवं च दौग्धान्नम्।।
कृशरं च वैष्णवेयं यदि नवरात्रं क्रमेण बलिरुक्तः।
तारादिकैर्नमोन्तैः स्वैः स्वैरपि नामभिश्च बलिमन्त्रः।।
पात्राणि त्रि(वि) विधान्यपि परितः पुनरष्टदिक्षु बलिक्लृप्तिः।
बीजारोपणकर्म प्रथितमिदं सार्वकामिकं भवति।।

(वही,५/२५-२६)

कुण्ड निर्माण-विधि

मण्डप में पूर्व, दक्षिण, पश्चिम तथा उत्तर की ओर एक हाथ गहरे चतुष्कोण, अर्ध चन्द्राकार, पद्म-दल, वृत्ताकार अथवा त्रिकोण के आकार के हवन-कुण्ड बनाये जाने चाहिये। कुण्ड के चारों ओर चौबीस अंगुल आकारवाली मेखला बनाई जानी चाहिये। पश्चिम अथवा उत्तर दिशा वाले कुण्ड के अन्दर सोलह, बारह, आठ अंगुल अथवा बीता भर कुण्ड के भीतर प्रविष्ट, पीपल के पत्ते की आकार वाली योनि का निर्माण किया जाना चाहिये। तत्पश्चात् दीक्षा-मण्डप को गाय के गोबर से लीप कर उसके बीच स्थण्डिल (वेदी) बनाकर उस पर वृत्ताकार, त्रिकोणाकार, चतुष्कोण अथवा कमलपत्र के आकार वाला राशिचक्र का विधिपूर्वक निर्माण किया जाना चाहिये।

आचार्य शंकर ने राशिचक्र की निर्माण-विधि का विस्तृत वर्णन किया है। उनके अनुसार किसी भी देवता की उपासना के लिये निर्मित किया जाने वाला मण्डल इस राशिचक्र के भीतर ही निर्मित होना चाहिये। इन यन्त्रों की रचना राशिचक्र के भीतर ही की जानी चाहिये, अन्यथा गुरु और शिष्य दोनों शाप और दोष के भागी बनते हैं। गुरु-शिष्य दोनों को चाहिये कि वे राशिचक्र के निर्माण और उसमें राशियों और उनके स्वामियों के सम्बन्ध में समस्त जानकारियां प्राप्त करके उनकी अर्चना करने के पश्चात् ही चतुरस्रादि मण्डलों का निर्माण करें।

मण्डल का तात्पर्य त्रिगुणित, षड्गुणित, द्वादशगुणित आदि यन्त्रों से हैं।

प्रागेव लक्षणयुतानि च मण्डपेऽस्मिन्,
कुण्डानि कारयतु सम्यगथो दिशासु।
आखण्डलार्कसुतवारिधनाधिपानां,
दोर्मांचकाणि विलसद्गुणमेखलानि।।
चतुरस्रमर्धशशिबिम्बविलसितमथ त्रिकोणकम्।
पद्मदलरुचिरवृत्तमिति ब्रुवते बुधा विधिषु कुण्डलक्षणम्।।
विंशत्या चतुरधिकाभिरंगुलीभिः
सूत्रेणाऽप्यथ परिसूत्र्य भूमिभागम्।
ताभिश्च प्रखनतु तावतीभिरेखां
त्यक्त्वा चांऽगुलिमपि मेखलाश्च कार्याः।।
सत्त्वपूर्वकगुणान्विताः क्रमात् द्वादशाऽष्टचतुरंगुलोच्छ्रिताः।
सर्वतोऽंगुलिचतुष्कविस्तृता मेखलाः सकलसिद्धिदा मताः।।
योनिस्तत्पश्चिमायामथ दिशि चतुरस्रस्थलारब्धनाला।
तन्मध्योल्लासिरन्ध्रोपरि परिविततताश्वत्थपत्रानुकारा।
उत्सेधायामकाभ्यां प्रकृतिविकृतिसंज्ञांगुलाऽष्टांगुला स्या-
द्विस्तृत्या द्वादशार्धांगुलमितनमिताग्रा निविष्टैव कुण्डे।।

....

ततश्च राशिचक्रं स्यात् स्वस्यवर्णभूषितम्।

....

चक्रं च चतुरस्रं च त्र्यस्रा द्वादश राशयः।।

....

मण्डलानि तु तत्त्वज्ञो राश्यन्तान्येव कारयेत्।
राशावन्यत्र रचयेत् प्रमोहादन्यमण्डलम्।।

[redacted]

आवाह्य देवतामन्यामर्चयंस्त्वन्यदेवताम्।
उभाभ्यां लभते शापं मन्त्री तरलदुर्मतिः।।
कालात्मकस्य देवस्य राशेर्व्यक्तिमजानता।
कृतं समस्तं व्यर्थं स्यादज्ञेन ज्ञानमानिना।।
अवगम्यानुरूपाणि मण्डलानि च नाऽन्यधीः।।

(वही, ५/३०-६२)

"मण्डलानि चेति भाविमण्डलाभिप्रायम्, वक्ष्यति च व्योमाविः-सचतुर्दशस्वरेत्यत्र प्रविधाय पद्ममिति"।.... इति प्रयोगदीपिकायाम्।



दीक्षा-विधि (१)

दीक्षा के लिये मण्डप-निर्माण, पालिका-शरावों में बीजवपन, कुण्ड-निर्माण, राशिचक्रादि-निर्माण आदि विधि पूरी कर लेने के बाद साधक की दीक्षा वाले दिन मन्त्रप्रदाता गुरु को चाहिये कि वह स्नानपूजादि नित्य कर्म समाप्त कर पूर्व दिशा की ओर मुख करके आसन पर बैठकर 'ओं ह्रीं' मन्त्र का उच्चारण करता हुआ परमात्मा से लेकर अपने दीक्षागुरु तक की परम्परा का स्मरण करता हुआ 'ओं गं अस्मद्गुरुभ्यो नमः, ओं गं गणपतये नमः, ओं दुं दुर्गायै नमः, ओं सां सरस्वत्यै नमः, ओं क्षं क्षेत्रपालाय नमः, ओं पं परमात्मने नमः ' इन मन्त्रों से दोनों कन्धों, जांघों तथा हृदय में न्यास तथा दिग्बन्धादि क्रियाओं को सम्पन्न करे। इसके बाद आचार्य यही न्यासादि क्रियाएं शिष्य द्वारा भी सम्पादित कराये। न्यासादि क्रियाएं अपने-अपने सम्प्रदायानुसार या गुरु-परम्परा के अनुसार की जाती हैं।

अथ पुनराचम्य गुरुः प्राग्वदनो विष्टरोपविष्टः सन्।
प्राणायामं सलिपिन्यासं कृत्वा न्यसेत् तदृष्यादीन्।।

(प्रपंचसारतन्त्र, ६/१)

न्यास

'न्यास' का अर्थ 'रखना या प्रतिष्ठित करना' है। साधक द्वारा अपने बाह्य तथा अन्तःशरीर में विभिन्न देवताओं की प्रतिष्ठा करके शरीर को देवमय बनाने की क्रिया का नाम न्यास है। न्यासविधि के द्वारा साधक अपने को सामान्य मानवीय भूमिका से ऊपर उठाकर अपने गुरु तथा इष्ट देवता के साथ तादात्म्यावस्था को प्राप्त करने का प्रयास करता है। साधना में 'देवो भूत्वा देवानप्येति' का मूलमन्त्र काम आता है। तात्पर्य यह कि यदि गुरु और इष्ट की कृपा प्राप्त करनी है, तो सामान्य मानवीय प्रकृति से ऊपर उठकर गुरु तथा देवतामय बनना पड़ता है, 'ईश्वरो गुरुरात्मेति मूर्तिभेदविभागिने' अर्थात् स्वयं में, गुरु तथा ईश्वर में केवल बाह्यभेद मानकर परमार्थतः अभेद-भावना करनी होती है।

न्यास ऋष्यादिन्यास, षडंगन्यास, करन्यास, मातृकान्यास, सृष्टिन्यास, संहारन्यास आदि कई प्रकार के होते हैं। ऋष्यादिन्यास में मन्त्र के ऋषि, छन्दस्, देवता, बीज, शक्ति तथा कीलक नामक छह अंग होते हैं। इनमें से प्रत्येक के

साथ चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग करते हुए क्रमशः नमः, स्वाहा, वषट्, हुं, वौषट् तथा फट् पदों के साथ सिर, मुख, हृदय, गुदा, चरण तथा नाभि में न्यास किया जाता है। जैसे, भगवती दुर्गा के महामन्त्र 'ओं ह्रीं दुं दुर्गायै नमः' के ऋषि नारद, छन्दस् गायत्री, देवता दुर्गा, बीज दुं तथा शक्ति ह्रीं है। इस मन्त्र की साधना में ऋष्यादिन्यास निम्न प्रकार से किये जाने का विधान है—

नारदाय ऋषये नमः (सिर में),
गायत्री छन्दसे नमः (मुख में),
दुर्गादेवतायै नमः (हृदय में),
दुं बीजाय नमः (गुह्य अंग में)
ह्रीं शक्तये नमः (चरणों में)

ऋष्यादिन्यास का तात्पर्य

ऋषि

आचार्य शंकर ने ऋषि, छन्दस् तथा देवता आदि की निरुक्ति अपने ही ढंग से की है। उनके अनुसार साधक जिस मन्त्र की साधना कर रहा है, उस मन्त्र का प्रथम साक्षात्कार करने वाला महान् साधक उस मन्त्र का 'ऋषि' कहलाता है। जैसे गायत्री महामन्त्र के ऋषि महर्षि विश्वामित्र हैं। मन्त्र की साधना में मन्त्र का सर्वप्रथम साक्षात्कार करने वाला 'ऋषि' सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। इसलिये मन्त्र-साधना में सबसे पहले ऋषि का ही स्मरण करके उसे शरीर में सर्वोच्च स्थान पर न्यस्त या स्थापित किया जाता है।

ऋषिर्गुरुत्वाच्छिरसैव धार्यः छन्दोक्षरत्वाद्रसनागतं स्यात्।
धियाऽवगन्तव्यतया सदैव हृदि प्रदिष्टा मनुदेवता च।। (वही, ६/२)

'ऋषि' शब्द का निर्माण गति अर्थ वाले धातु 'ऋ गतौ' तथा प्राप्ति अर्थ वाली धातु 'षिङ् प्रापणे' से होता है। शिष्य को गतिशील बनाकर जो उसे 'स्वस्वरूप परमात्मन्' तक ले जाता है, वह गुरु है। गुरु सर्वोच्च है, अतः गुरु ही 'ऋषि' है। साधना में ऋषि को अपने शरीर के सर्वोच्च स्थान 'सिर' पर आसीन करके साधक वास्तव में, अपने गुरु को ही यह स्थान देता है।

ऋषिवर्णादिकौ धातू स्तो गत्या प्रापणेन च।
यात्याभ्यां यत्स्वरूपं स गुरुः स्यादृषिवाचकः।। (वही, ६/३)

छन्दस्

'छन्दस्' शब्द इच्छा अर्थ वाली 'छदु (इच्छायाम्) तथा दान अर्थ वाली दाण् (दाने) धातुओं के योग से होता है। साधक को उसकी इच्छा के अनुरूप फल प्रदान करने वाले 'तत्त्व' को 'छन्दस्' कहा जाता है। यह छन्दस् अक्षरमय है। अतः अक्षरमय मन्त्र के वर्ण ही छन्दस् कहे जाते हैं।

इच्छादानार्थकौ धातू स्तश्छदाद्यश्च दादिकः।
तयोरिच्छां ददातीति छन्दो मन्त्रार्णवाचकः।। (वही, ६/४)

देवता

'देवता' शब्द की निष्पत्ति क्रीडा, विजिगीषा, व्यवहार, द्युति, स्तुति, मोद, मद, स्वप्न, कान्ति तथा गत्यर्थकादि धातु 'दिवु' से अथवा विस्तार अर्थ वाली धातु 'तक्षु या त्वक्षु' से होता है। जो जीवात्मा के अज्ञानादि दोषों को क्षीण करके उसमें द्युति, देवत्त्व तथा आत्म-विस्तार में योग देता है, उसे 'देवता' कहा जाता है। मन्त्र-साधना में मन्त्र का देवता साधक को मनुष्यत्व से उठाकर देवत्व तक पहुंचाता है। मन्त्र के देवता की आराधना, उसका चिन्तन एवं मनन बुद्धि और हृदय से किया जाता है, अतः उसकी प्रतिष्ठा या न्यास हृदय में किया जाता है।

आत्मनो देवताभावप्रदानाद् देवतेति च।
पदं समस्ततन्त्रेषु विद्वद्भिः समुदीरितम्।। (वही, ६/५)

बीज

यद्यपि आचार्य शंकर ने ऋष्यादि न्यास के प्रसंग में बीज एवं शक्ति की चर्चा नहीं की है, तथापि पद्मपाद ने आचार्य शंकर द्वारा उद्घाटित प्रत्येक मन्त्र के निर्वचन में उस मन्त्र के बीज और शक्ति का उल्लेख किया है। जैसे सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ का एक बीज होता है, वैसे ही प्रत्येक मन्त्र का भी एक बीज होता है। बीज ही विकसित होकर वृक्ष बनता है। मन्त्रशास्त्र में बीज को मन्त्र का मूल बिन्दु माना जाता है। यह मन्त्र में शक्ति तत्त्व का संचार करता है। मानव-शरीर में बीज की अभिव्यक्ति का स्थान गुह्येन्द्रिय अर्थात् जननेन्द्रिय है, अतः बीज का न्यास गुह्येन्द्रिय में किया जाता है।

शक्ति

बीज को जाग्रत् अथवा संचरणशील बनाने का कार्य 'शक्ति' करती है । बीजात्मक शिव में सृजनादि का समावेश शक्ति द्वारा ही होता है। आचार्य शंकर

के अनुसार 'शिव जब शक्ति से युक्त होता है, तभी उसमें 'प्रभवन' (सृष्टि), स्थिति, संहार, तिरोधान तथा अनुग्रह नामक प्रपंचन की सामर्थ्य आती है। लेकिन, यदि वह शक्ति से रहित है, तब तो उसमें स्पन्दन करने की भी सामर्थ्य नहीं होती'।

"शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुम्।
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि"। (सौन्दर्यलहरी, १)

मन्त्र में प्रभविष्णुता या प्रभाव लाने का कार्य शक्ति ही करती है। व्यक्ति में संचरण की शक्ति उसके चरणों में होती है। अतः शक्ति का न्यास चरणों में किया जाता है। आचार्य शंकर एवं पद्मपाद ने मन्त्र के छठे अंग 'कीलक' की चर्चा नहीं की है। वैसे, कीलक का काम मन्त्र और मन्त्र-साधकों को विचलन से बचाना है। कीलक का न्यास सर्वांग में किया जाता है ।

ऋष्यादि न्यास में मन्त्र के साक्षात्कार करने वाले ऋषि को अपने मस्तक (सहस्रार) में आसीन करने की भावना करता हुआ साधक अपने मूलाधार में स्थित आत्मतेज (कुण्डलिनी शक्ति) को मूलाधार से उठा कर सहस्रार में स्थित परमात्मन्‌रूपी परम गुरु (शिव) से मिलाने की भावना करता है। इस भावन-क्रिया द्वारा वह सहस्रार-स्थित परमात्मन् गुरु से 'चिदादित्य रूपी' मन्त्रमय अमृत प्राप्त करता है। सहस्रार से वह आत्मतेज पुनः अपने मूलस्थान मूलाधार की ओर लौटता है। सहस्रार से स्रवित होने वाले मन्त्रमय अमृत से उस साधक का हृदय सहित समस्त शरीर आप्लावित हो जाता है। इसे ही कुण्डलिनी का उत्थान तथा व्युत्थान क्रम कहा जाता है। आचार्य शंकर ने 'सौन्दर्यलहरी' में इनका उल्लेख किया है।

"महीं मूलाधारे कमपि मणिपूरे हुतवहं
स्थितं स्वाधिष्ठाने हृदि मरुतमाकाशमुपरि।
मनोऽपि भ्रूमध्ये सकलमपि जित्वा कुलपथं
सहस्रारे पद्मे सह रहसि पत्या विहरसे ।।
सुधाऽऽधारासारैश्चरणयुगलान्तर्विगलितैः,
प्रपंचं सिंचन्ती पुनरपि रसाम्नाय महसा।
अवाप्य स्वां भूमिं भुजगनिभमध्युष्टवलयम्,
स्वमात्मानं कृत्वा स्वपिषि कुलकुण्डे कुहरिणि"।।

(सौन्दर्यलहरी, ९-१०)

अंगमन्त्र एवं षडंगन्यास

मन्त्र की साधना में ऋष्यादिन्यास के अनन्तर 'षडंगन्यास' किया जाता है। यह न्यास क्रमशः हृदय, सिर, शिखा, कवच (कन्धों), नेत्र तथा अस्त्र (सर्वांग) में उक्त अंगों के साथ चतुर्थी विभक्ति लगा कर तथा उनके अन्त में क्रम से नमः, स्वाहा, वषट्, हुं, वौषट् तथा फट् शब्दों का प्रयोग करके किया जाता है।

हृदयशिरसोः शिखायां कवचाक्ष्यस्त्रेषु सहचतुर्थीषु।
नत्या हुत्या च वषड् हुं वौषट् फट्पदैः षडंगविधिः।। (वही, ६/६)

अंगन्यास की विधि स्वसम्प्रदायानुसार भिन्न हो सकती है। शाक्त-साधकों की परम्परा में हृदयन्यास में तर्जनी तथा मध्यमा नामक अंगुलियों से हृदय एवं सिर का, बंधी हुई मुट्ठी वाले अंगूठे से शिखा का, दोनों हथेलियों से सर्वांग का, तर्जनी एवं अनामिका से नेत्रों का (मध्यमा से भ्रूमध्य में स्थित तीसरे नेत्र) स्पर्श करके तथा चोटी के बन्धन से दिग्बन्ध की षडंग क्रिया सम्पन्न की जाती है।

षडंग जातियों का अर्थ

नमः

'नमः' का अर्थ प्रणाम है। परमात्मा हृदय में स्थित है (हृदि +अयम् इति हृदयम्)। इसे सूक्ष्म तत्त्वदर्शिनी बुद्धि से देखा जा सकता है-'दृश्यते त्वग्र्या बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः।' परमात्मा को साधक बुद्धि द्वारा अपने हृदय में प्राप्त कर उसे नमस्कार करता है। इसी तथ्य को दिखाने के लिये षडंगन्यास में 'हृदय' पद के साथ 'नमः' (हृदयाय नमः) पद का प्रयोग किया जाता है।

हृदयं बुद्धिगम्यत्वात्प्रणामः स्यान्नमः पदम्।
क्रियते हृदयेनाऽतो बुद्धिगम्या नमस्क्रियाः ।। (वही, ६/७)

स्वाहा

'स्वाहा' का अर्थ 'समर्पण' है। शिरस् (सिर) सर्वोच्च अंग है। यहां परम शिव अर्थात् गुरु का निवास है। 'शिरस्' शब्द के साथ स्वाहा शब्द का प्रयोग किया जाता है। इस न्यास क्रिया में साधक द्वारा 'शिरसे स्वाहा' मन्त्र के उच्चारण का अर्थ यह है कि 'मैं अपनी इन्द्रियों के द्वारा जिन-जिन विषयों का भोग करता हूं, उन्हें परम शिव को समर्पित करता हूं।

तुंगार्थः स्याच्छिरः स्वे स्वे विषयाहरणे द्विठः ।
शिरोमन्त्रेण चोत्तुंगविषयाहृतिरीरिता ।। (वही, ६/८)

शिखा

'शिखा' में परमात्मन् का 'तेजस्' स्थित है। परमात्मन् का यही तेजस् साधक के कार्य-कारण शरीर में भी व्याप्त है। शिखा के साथ 'वषट्' शब्द का प्रयोग किया जाता है। 'वषट्' अंग को कहते हैं।

शिखा तेजः समुद्दिष्टा वषडित्यंगमुच्यते ।
तत्तेजोऽस्य तनुः प्रोक्ता शिखामन्त्रेण मन्त्रिणः । (वही, ६/६)

विवरण के अनुसार कार्य और कारण शरीर को वषट् कहते हैं। न्यास-विधि में 'शिखायै वषट्' कहने का अर्थ है कि 'मैं शिखास्थान में स्थित परमात्मा को अपने समस्त अंगों अर्थात् पूरे शरीर को समर्पित करता हूं।'

"कार्यकारणात्मकं शरीरं वषडित्युच्यते" इति विवरणे।

कवच

ग्रहणार्थक 'कव' धातु से 'कवच' शब्द बनता है। इसका अर्थ ग्रहण करना है। कवच के साथ 'हुं' का प्रयोग किया जाता है। 'हुं' का अर्थ भी 'तेजस्' है। अतः इस न्यास में 'कवचाय हुं' कह कर परमात्मन् के तेजस् द्वारा जीवात्मन् या साधक के तेजस् को ग्रहण या व्याप्त किये जाने की भावना की जाती है।

कव ग्रहण इत्यस्माद्धातोः कवचसम्भवः ।
हुं तेजस्तेजसा देहो गृह्यते कवचं ततः ।। (वही, ६/१०)

नेत्र

'वौषट्' का सम्बन्ध नेत्र से है। 'नेत्र' दृष्टि को तथा 'वौषट्' दर्शन को कहते हैं। नेत्र इन्द्रिय गोलक को नहीं, अपितु उस तेजस् को कहते हैं, जिसके द्वारा नेत्र-गोलकों में देखने की शक्ति आती है। वह शक्ति परमात्मा का तेजस् ही है—'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।' न्यासविधि में 'नेत्राभ्यां वौषट्' कह कर साधक परम तेजस् रूप परमात्मा का स्मरण करता है।

नेत्रं दृष्टिः समुद्दिष्टा वौषड्दर्शनमुच्यते ।
दर्शनं दृशि येन स्यात्तत्तेजो नेत्रवाचकम् ।। (वही, ६/११)

अस्त्र

'अस्त्र' शब्द की निष्पत्ति 'असु क्षेपणे' तथा 'त्रस्' चलने इन दो धातुओं के योग से होती है। आक्षेपण और चालन (खींचना और चलाना) 'अस्त्र' के

स्वभाव है। अस्त्र के साथ 'फट्' का प्रयोग किया जाता है। 'फट्' शब्द का अर्थ रक्षा की भावना से देहादि का ईश्वर को समर्पण करना है। षडंगन्यास विधि में 'अस्त्राय फट्' का उच्चारण कर साधक साधना में आने वाले बाधक तत्त्वों को अपनी भावना से खींचकर 'फट्' रूपी आग्नेयास्त्र द्वारा से उन्हें वैसे ही दूर फेंक देता है, जैसे ज्वलनशील पदार्थों से अस्त्र को संचालित कर उसे तथा उसमें रखे गये पदार्थों को दूर फेंक दिया जाता है।

असुत्रसादिकौ धातू स्तः क्षेपचलनार्थकौ।
ताभ्यामनिष्टमाक्षिप्य चालयेत् फट् पदाग्निना।। (वही, ६/१२)

शंकर के अनुसार सभी तन्त्रों में हृदयाय नमः, शिरसे स्वाहा, आदि न्यास के छह अंग ही अंगमन्त्र कहे जाते हैं। जिन मन्त्रों की न्यास-विधि में छह अंग नहीं, केवल 'पंचांग' का ही विधान है, उनमें 'नेत्रन्यास' नहीं किया जाता।

अंगमन्त्रा इमे प्रोक्ता सर्वतन्त्रेषु मन्त्रिभिः।
पंचैव यस्य मन्त्रस्य भवन्त्यंगानि मन्त्रिणः।
सर्वेष्वपि च मन्त्रेषु नेत्रलोपो विधीयते। (वही, ६/१३-१४)

करन्यास

अंगन्यास के पश्चात् अंगन्यास के मन्त्रों द्वारा ही करन्यास किया जाता है। करन्यास का तात्पर्य भी कर के अंगुष्ठ, तर्जनी, मध्यमा, अनामिका, कनिष्ठिका करतल एवं करपृष्ठ में देवताओं, मन्त्रों, मन्त्रांगों आदि की प्रतिष्ठा करके करों को देवमय बनाना है। इसके बाद अस्त्र मन्त्र से दायें हाथ की अंगुलियों से बांयें हाथ की हथेली पर तीन बार ताडन करके इसी मन्त्र से दिग्बन्ध की क्रिया सम्पन्न की जाती है। आचार्य शंकर के अनुसार किसी भी मन्त्र के जप करने के आरम्भ में अंगन्यासादिरूपी उक्त नियम समान रूप से ग्रहण किये जाते हैं।

अंगुलीषु क्रमादंगैरंगुष्ठादिषु विन्यसेत्।।
कनिष्ठान्तासु तद् बाह्यतलयोः करयोः सुधीः।।
अस्त्रेण तालत्रितयं कृत्वा तेनैव बन्धयेत्।।
दिशो दश क्रमादंगषट्कं वा पंचकं न्यसेत् ।
जपारम्भे मनूनां तु सामान्येयं प्रकल्पना।। (वही, ६/१४-१६)

दीक्षा तथा देव-साधना आदि के अवसरों पर प्रयुक्त किये जाने वाले षोडशांगन्यास, षडध्वन्यास, अजपादिन्यास, कला-केशवादिन्यास, ग्रहन्यास,

सृष्टिन्यास, संहारन्यास आदि की विधि को आचार्य शंकर ने बहुत महत्त्वपूर्ण माना है। साधक के तन और मन में किये जाने वाले न्यासों का मूल उद्देश्य साधक के तन-मन को निर्मल बनाकर उसे देवत्व तक पहुंचाना है। इन विविध न्यासों के स्वरूप का विवेचन मन्त्र-देवादि के साधना-प्रसंगों में आगे किया जाना उचित होगा।



पूजा-विधान

साधना के समय साधक को चाहिये कि वह अपने सामने एक अष्टदल कमल-चक्र की रचना करके शंख तथा गन्धपुष्प-अक्षत तथा जल अपने बायीं ओर रखकर पूजा के लिये रखी गयी मूर्ति में गुरु द्वारा बताई गई विधि से मन्त्राक्षरों का न्यास करे। दायीं ओर पूजापात्र तथा सामने दीपक रखा जाना चाहिये। बायीं ओर देवमय गुरुओं की पूजा 'गुं परमगुरुभ्यो नमः, गुं परापरगुरुभ्यो नमः, गुं अपरगुरुभ्यो नमः, गुं अस्मद्‌गुरुभ्यो नमः' इन मन्त्रों से की जानी चाहिये। तदनन्तर 'धं धर्माय नमः' आदि मन्त्रों के साथ धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य तथा अनैश्वर्य नामक आठ पीठ देवताओं में से प्रथम चार का न्यास तथा पूजा क्रमशः आग्नेय, नैऋत्य, वायव्य, ईशान नामक उप दिशाओं में एवं अन्तिम चार का न्यास तथा पूजा पूर्व, दक्षिण, पश्चिम तथा उत्तर में की जानी चाहिये। पीठ के मध्य में अनन्त, पद्‌म, सूर्य-मण्डल, चन्द्रमण्डल, अग्निमण्डल सत्त्वादि त्रिगुण-मण्डल, आत्ममण्डल, अन्तरात्ममण्डल, तथा परमात्म-मण्डल का न्यास और पूजन करना चाहिये। केसरों में साधना से सम्बन्धित मन्त्र की आठ शक्तियों तथा मध्य में नौवीं शक्ति का न्यास एवं पूजन किया जाना चाहिये।

शंखं सगन्धपुष्पाक्षततोयं वामतः प्रविन्यस्य।
सांगं मन्त्रं पूजामूर्तौ न्यसेद्‌ गुरूपदेशेन।।
न्यसेच्च दक्षभागे सुमनःपात्रं तथाऽभितो दीपान्।
अन्यत्साधनमखिलं पुरतो गन्धाक्षतादिकं मन्त्री।।
प्रथमं निजसव्यतो यथावत् प्रयजेद् देवमयान् महागुरून् स्वान्।
गणनायकमन्यतश्च पाशांकुशदन्ताभयहस्तमुज्ज्वलांगम्।।
रक्तं धर्मं वृषतनुमथाऽग्नौ हरिं श्यामवर्णं
ज्ञानं रक्षोदिशि मरुति पीतं च वैराग्यसंज्ञम्।
भूताकारं द्विरदतनुमैश्वर्यमीशे च कृष्णं
नभ्रूपूर्वैस्तैर्यजतु दिशि चित्राणि गात्राणि पीठे।।
मध्येऽनन्तं पद्‌ममस्मिंश्च सूर्यं सोमं वह्निं तारवर्णैर्विभक्तैः।

सत्वादींश्च त्रीन् गुणानात्मयुक्ताश्छक्तीः किंजल्केषु मध्ये यजेच्च।।
श्वेताकृष्णारक्तापीताश्यामानलोपमाः प्रोक्ताः।
अंजनजपासमानवर्णास्तेजोरूपाश्च शक्तयः प्रोक्ताः।।

(प्रपंचसारतन्त्र, ६/१७-२२)

कलश-स्थापना

पूजन के लिये निर्मित पीठ पर अंकित कमल की कर्णिका में शाली (धान) उसके ऊपर चावल, चावलों पर दर्भ, दर्भों के ऊपर अक्षतों सहित कूर्च तथा उस पर वस्त्र से आवेष्ठित एवं नवग्रहों के लिये विहित नौ रत्नों से युक्त, क से लेकर ष वर्ण अक्षरों से अभिमन्त्रित औषधियों से पकाये गये, या दशमूलादि से पकाये गये अथवा दूधवाले पवित्र वृक्षों की छाल से पकाये गये जल से भरा हुआ घट स्थापित किया जाना चाहिये। इसके बाद उपासना के अनुरूप शाक्त, वैष्णव या शैव गन्धाष्टकों को शंख में रखे हुए उक्त क्वथित कषाय जल में अच्छी तरह घोलकर उपासना के मन्त्रों से साधना से सम्बन्धित कलाओं का आवाहन करके उक्त घट में मिला देना चाहिये।

विन्यस्य कर्णिकोपरि शालींस्तदुपरि तण्डुलांश्च तथा।
तेषामुपरि च दर्भान् दर्भोपरि कूर्चमक्षतोपेतम्।।
त्रिगुणेन च तन्तुरूपभाजा परितोऽथो परिवेष्टितं यथावत्।
लघुनाऽलघु धूपितं च कूर्चोपरिकुम्भं निदधातु तारजापी।।
न्यस्य दर्भमयकूर्चमक्षताद्यन्वितं सनवरत्नकं घटे।
पूरयेत्सह कषादिकान्तगैरक्षरौषधिविपाचितैर्जलैः।।
अथवादशमूलपुष्पदुग्धांघ्रिपचर्मोत्क्वथितैः कषायतोयैः।
स्तनजद्रुमचर्मसाधितैर्वा सलिलैः संयतधीः शुभोदकैर्वा।।
शंखे कषायोदकपूरिते च विलोड्य सम्यग् विधिनाऽष्टगन्धम्।
कलाः समावाह्य विनिक्षिपेत्तत्क्वाथोदकापूर्णमुखे च कुम्भे।।

(वही, ६/२३-२७)

त्रिविधगन्धाष्टकम्

पूजन में अष्टगन्धों के प्रयोग से साधक को शारीरिक-मानसिक शक्ति और उपास्य देव का सान्निध्य प्राप्त होने के साथ ही, पूजन में भाग ले रहे लोगों को मनःशान्ति भी प्राप्त होती है। गन्धाष्टक तीन प्रकार के होते हैं—शाक्तेय, वैष्णव और शैव। चन्दन, कर्पूर, अगुरु, कुंकुम, कपि, मांसि, रोचना तथा चोरा

नामक औषधि-पदार्थों के सम्मिश्रण से शाक्तेय गन्धाष्टक बनाया जाता है। चन्दन, ह्रीवेर, अगुरु, कुष्ठ, असृग्, उशीर, मांसि तथा मुरा के सम्मिश्रण से वैष्णव अष्टगन्ध बनता है। चन्दन, कर्पूर, अगुरु, दल, रुधिर, कुशीत, रोगज तथा मुरा के सम्मिश्रण से शैव अष्टगन्ध का निर्माण किया जाता है।

त्रिविधं गन्धाष्टकमपि शाक्तेयं वैष्णवं च शैवमपि।
गन्धाष्टकेन शक्तिः स्यात् क्रमशो मन्त्रिणा कृतेऽनन्ता।।
चन्दनकर्पूरागुरुकुंकुमकपिमांसिरोचनाचोराः।
गन्धाष्टकमपि शक्तेः सान्निध्यकरं च लोकरंजनकृत्।।
चन्दनह्रीवेरागुरुकुष्ठासृगुशीरमांसिमुरमपरम्।
चन्दनकर्पूरागुरुदलरुधिरकुशीलरोगजमपरम्।। (वही, ६/२८-३०)

कला-विनियोग एवं ऋक्-पंचक से कुम्भपूरण

आचार्य शंकर ने कलाओं के उल्लेख के प्रसंग में १६ सौम्य, १२ सौर तथा १० आग्नेय कलाओं के अलावा ओंकार के अकार, उकार, मकार, बिन्दु तथा नाद से उत्पन्न क्रमशः १० सृष्टिकारिणी ब्राह्मी, १० स्थितिकारिणी वैष्णवी, १० संहारकारिणी रौद्री, ४ बिन्दुज, १६ नादज, शक्ति और शान्त से सम्बन्धित 'हंसः शुचिषद्' आदि ५ ऋक्-प्रभवा कुल ६३ कलाओं के अलावा बिन्दु कलाओं में से क्षकार-प्रभवा अन्तिम कला 'अनन्ता' या उक्त सभी कलाओं की आत्मरूपा ६४वीं कला (मन्त्र के देवता) का उल्लेख किया है।

कलश-स्थापना की विधि के अन्तर्गत मन्त्र के देवता सहित इन सभी कलाओं का उक्त शंख में रखे जल में आवाहन कर उस शंखस्थित जल को कलश के जल में मिला देना चाहिये। फिर उनमें मन्त्र-देवता सहित प्रत्येक कला की प्राणप्रतिष्ठा करके उनका अर्घ्य, पाद्य, आचमनादि षोडशोपचार पूजन करना चाहिये।

अष्टत्रिंशत्प्रभेदेन याः कलाः प्रागुदीरिताः।
गुरूपदेशक्रमतस्ता विद्वान् विनियोजयेत्।।
याः पंचाशत्कलास्तारपंचभेदसमुत्थिताः।
पंचपंचकसम्भिन्ना विदुस्तास्तत्त्ववेदिनः।।
सप्तात्मकस्य तारस्य परौ द्वौ तु परौ यतः।
ततस्तु शक्तिशान्ताख्यौ पठ्येते न परैः सह।।

प्रथमं प्रकृतेर्हंसः प्रतद्विष्णुरनन्तरः।
त्रैयम्बकं तृतीयं स्यात् चतुर्थस्तत्पदादिकः।।
विष्णुर्योनिरितीत्यादिः पंचमः कल्प्यतां मनुः।
चतुर्नवतिमन्त्रात्मा देवतावाह्य पूर्यताम्।।
अत्र याः पंच सम्प्रोक्ता ऋचस्तारस्य पंचभिः।
कलाप्रभेदैश्च मिथो युज्यन्ते ताः पृथक् क्रमात्।।
कुर्यात्प्राणप्रतिष्ठां च तत्र तत्र समाहितः।
प्राणप्रतिष्ठामन्त्रेण पुनस्तोयं कलात्मकम्।
उच्चारयन् मूलमन्त्रं कलशे सन्निधापयेत्।। (वही, ६/३१-३७)

प्राण-प्रतिष्ठा मन्त्र

"आं ह्रीं क्रों यं रं लं वं शं षं सं हों क्षं सं हंसः ह्रीं हों
अमुष्य प्राणाः इह प्राणकाः जीवः इह स्थितः
सर्वेन्द्रियाणि वांमनसी दृशं श्रुतिं सप्राणकं घ्राणं इहायातु स्वाहा"

यह प्राणप्रतिष्ठा मन्त्र है। इस मन्त्र के 'अमुष्य' पद के स्थान पर जिस देवता या कला की प्राणप्रतिष्ठा करनी हो, उसके नाम का उच्चारण करना चाहिये।

प्रोक्तापूर्वममुष्य शब्दमथ च प्राणा इह प्राणका-
स्तद्वज्जीव इह स्थितेति च तथा सर्वेन्द्रियाणीति च।
तद्वद् वाङ्मनसावुदीर्य तदनु प्राणा इहायान्त्विति
स्वाहान्तं प्रजपेन्मनुं निशितधीः प्राणान् प्रतिष्ठापयेत्।। (वही, ६/३८)

तदनन्तर अक्षतादि से युक्त पीपल, आम्र, कटहल आदि के पवित्र पर्णों को कल्पवृक्ष के पर्ण की भावना करते हुए उन्हें कलश के मुख पर रख कर दो वस्त्र खण्डों से कलश का मुख लपेट कर सर्वप्रथम साध्यमन्त्र के देवता में षडंग-न्यासादि करके कलश में पूर्णरूप से स्थित हो जाने की प्रार्थनारूपी सकलीकरण करते हुए उनका आसन, स्वागत, अर्घ्य, पाद्य, आचमन, मधुपर्क, आचमन, स्नान, वसन, आभरण, सुगन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य तथा वन्दनरूपी षोडशोपचार, अथवा अर्घ्य, पाद्य, आचमन, मधुपर्क, आचमन, गन्ध, पुष्प, धूप-दीप तथा नैवेद्य रूपी दशोपचार अथवा गन्ध, पुष्प, धूप, दीप तथा नैवेद्यरूपी पंचोपचार अर्चना-पद्धतियों में से किसी एक से पूजा करनी चाहिये।

अश्वत्थचूतपनसस्तवकैः सूत्रामवल्लरीतण्डुलैः (युक्तैः)।
सुरतरुधिया पिधाय कुम्भमुखं वेष्टयीत वासोभ्याम्।।
पुनस्तोयगतं देवं साध्यमन्त्रानुरूपतः।
सकलीकृत्य च गुरुरुपचारान् समाचरेत्।।
आसनस्वागते सार्घ्यपाद्ये साचमनीयके।
मधुपर्काचमस्नानवसनाभरणान्यपि।।
सुगन्धसुमनोधूपदीपान्नैवेद्यवन्दने।
प्रयोजयेदर्चनायामुपचारांस्तु षोडश।।
अर्घ्यपाद्याचमनमधुपर्काचमनान्यपि।
गन्धादयो निवेद्यान्ता उपचारा दश क्रमात्।।
गन्धादिका निवेद्यान्ता पूजा पंचोपचारिकी।
सपर्याः त्रिविधाः प्रोक्तास्तासामेकां समाचरेत्।। (वही, ६/३६-४४)

पूजार्ह द्रव्य

अर्घ्यद्रव्य

गन्ध, पुष्प, अक्षत, यव, कुशाग्र, तिल, सर्षप तथा दूर्वा नामक आठ पदार्थ अर्घ्यद्रव्य कहे जाते हैं।

पाद्य द्रव्य

श्यामाक, दूर्वा, कमल तथा विष्णुक्रान्ता पाद्य द्रव्य हैं।

आचमनीय द्रव्य

जाती, लवंग तथा कल्लोल आचमनीय द्रव्य हैं।

मधुपर्क द्रव्य

मधुसहित दही मधुपर्क द्रव्य है।

आचमनीय द्रव्य

शुद्ध जल आचमनीय द्रव्य माना जाता है।

गन्ध द्रव्य

चन्दन, अगुरु तथा कपूर को जल में पीस कर गन्ध द्रव्य बनाया जाता है।

पुष्प

हरित तथा श्यामा तुलसी, रक्त तथा श्वेत कमल, श्वेत तथा पीत जाती,

श्वेत तथा पीत केतकी तथा रक्त एवं पीत कनेर ये दस पुष्प पूजा के लिये सर्व-श्रेष्ठ माने जाते हैं। इनके अतिरिक्त रक्त कमल, नील कमल, कुमुद, मालती, मल्लिका, कुन्द, मन्दार, नन्द्यावर्त, पलाश, पाटली, पार्थ, पारन्ती, आवर्तक, चम्पक, नागकेसर, रक्त-मन्दार, अशोक तथा बिल्व से उत्पन्न पुष्पाभ अंकुर, कनेर सहित अन्य सुगन्धित, सुन्दर और अपने-अपने आगम में विहित पुष्प पूजा में प्रयुक्त किये जा सकते हैं। लेकिन, किसी से सूंघे हुए, अशुद्ध अंग से स्पर्श किये हुए तथा बासी पुष्पों से देवार्चन नहीं करना चाहिये।

धूप

गुग्गुलु, अगुरु, उशीर, शर्करा, घृत तथा चन्दन की पिष्टी से धूप नामक द्रव्य बनाया जाता है। धूप का प्रयोग नीचे फर्शादि पर रखना चाहिये, जिससे कि सारा वातावरण सुगन्धित हो जाय।

दीप

कपास की बाती को लघु अथवा कपूर से लिप्त कर गोघृत अथवा तैल से दीपित दीप को पूजागृह में किसी उच्च स्थान पर रखना चाहिये जिससे सारा कक्ष प्रकाशित होता रहे।

नैवेद्य

नैवेद्य किंचित् उष्ण, घृतयुक्त शुद्ध खीर, मिश्री, कदलीफल तथा दधि आदि मधुर पदार्थों से देवता को अर्पित करने के लिये नैवेद्य निर्मित किया जाता है।

गन्धपुष्पाक्षतयवकुशाग्रतिलसर्षपाः।
दूर्वा चेति क्रमादर्घ्यद्रव्याष्टकमुदीरितम्।।
पाद्यं श्यामाकदूर्वाब्जविष्णुक्रान्ताभिरुच्यते।
जातीलवंगकल्लोलैर्मतमाचमनीयकम्।।
मधुपर्कं च सक्षौद्रं दधि प्रोक्तं मनीषिभिः।
शुद्धाभिरद्भिर्विहितं पुनराचमनीयकम्।।
चन्दनागुरुकर्पूरपंकं गन्धमिहेष्यते।
अथवा लघुकाश्मीरपटीरमृगनाभिजम्।।
तुलस्यौ पंकजे जात्यौ केतक्यौ करवीरकौ।
शस्तानि दश पुष्पाणि तथा रक्तोत्पलानि च।।
उत्पलानि च नीलानि कुमुदानि च मालती।
मल्लिका कुन्दमन्दारनन्द्यावर्तादिकानि च।।

पलाशपाटलीपार्थपारन्त्यावर्तकानि च।
चम्पकानि सनागानि रक्तमन्दारकाणि च।।
अशोकोद्भवबिल्वोत्थकर्णिकारोद्भवानि च।
सुगन्धानि सुरूपाणि स्वागमोक्तानि यानि च।
मुकुलैः पतितैर्म्लानैः शीर्णैर्वा जन्तुदूषितैः
आघ्रातैरंगसंसृष्टैरुषितैरपि नाऽर्चयेत्।।
सगुग्गुल्वगुरूशीरसिताज्यमधुचन्दनैः।
सारांगारे विनिक्षिप्तैर्मन्त्री नीचैः प्रधूपयेत्।।
गोसर्पिषा वा तैलेन वर्त्या च लघुगर्भया।
दीपितं सुरभिं शुद्धं दीपमुच्चैः प्रदीपयेत्।।
सुशितेन सुशुद्धेन पायसेन सुसर्पिषा।
सितोपदंशकदलौ दध्याद्यैश्च निवेदयेत्।। (वही, ६/४५-५६)

मन्त्र के मुख्य देवता की षोडशोपचार अर्चना करने के बाद क्रमशः अपने-अपने मूलमन्त्र से पुटित अकारादि ५० मातृकाओं से उक्त पचास कलाओं की गन्धादि-नैवेद्यान्त दशोपचार अर्चना करनी चाहिये। इस प्रशस्त प्रयोग को त्रैलोक्यमोहन प्रयोग कहा जाता है।

वर्णैर्मनुप्रपुटितैः क्रमशः शतार्धैर्न्यासक्रमादभिजयेत्सकलासु मन्त्री।
गन्धादिभिः प्रथमतो मनुदेवतासु त्रैलोक्यमोहनमिति प्रथितः प्रयोगः।।
(वही, ६/५७)

अंगदेवता, लोकपाल एवं उनके आयुध

आवरण-पूजा

मन्त्र देवता तथा पंचाशत् कलाओं की अर्चना के बाद सर्वप्रथम तुषार, स्फटिक, श्याम, नील, कृष्ण तथा अरुण आभा वाली, वरद एवं अभय मुद्रा-धारिणी स्त्रीरूप वाली अंगदेवताओं की पूजा अर्चनार्थ निर्मित अष्टदल कमल की केशरों के क्रमशः आग्नेय कोण में हृदय, नैर्ऋत्य में शिरस्, वायव्य में शिखा, ईशान में कवच, सामने नेत्र तथा मुख्य दिशाओं में अस्त्र मन्त्रों से करनी चाहिये। तदनन्तर क्रमशः पीत, पिंगल, कृष्ण, धूम्र, श्वेत, धूम्र, श्याम, श्वेत, काशपुष्प तथा रक्त कमल वर्ण वाले लोकपाल इन्द्र, अग्नि, यम, निशाचर, वरुण, अनिल, कुबेर, शिव, अनन्त तथा ब्रह्मा और उनके क्रमशः पीत, हिम, श्याम, आकाश, विद्युत्, रक्त, कुन्द, नील, अतसीपुष्प तथा अरुण वर्ण वाले कुलिशादि आयुधों की अर्चना करनी चाहिये।

हृदयं सशिरस्तया शिखया कवचं चेत्यनलान्त्रिषु।
पुरतो नयनं दिशासु मन्त्री पुनरस्त्रं च समर्चयेत्क्रमात्।।
हारस्फटिककलायांजनपिंगलवह्निरोचिषो ललनाः।
अभयवरोद्यतहस्ताः प्रधानतनवोऽगवेयताः कथिताः।।
आद्यावंगावरणं तन्त्रत्वादीरितं विधानेषु।
अन्ते च लोकपालावृतिरथ कुलिशादिकान् च।।
इन्द्राग्नियमनिशाचरवरुणानिलधनेशशिवाहिपतिविधयः।
जात्यधिपहेतिवाहनपरिवारान्ताः क्रमेण यष्टव्याः।।
पीतः पिंगः कृष्णो धूम्रः श्वेतं च धूम्रशितशुक्लाः।
काशारुणाम्बुजाभा लोकेशा वासवादयः प्रोक्ताः।।
वज्र सशक्तिर्दण्डः खड्गः पाशांकुशौ गदाशूलौ।
रथचरणनलिनसंज्ञौ प्रोक्तान्यस्त्राणि लोकपालानाम्।।
पीतहिमजलदगगनाचिरप्रभारक्तकुन्दनीलरुचः।
करविन्दारुणवर्णाः प्रोक्ताः स्युर्यर्णतोऽपि वज्राद्याः।।

(वही, ६/५८-६४)



अग्नि-स्थापना

मन्त्रदेवता तथा कलादि की आवरण-पूजा सम्पन्न करने के बाद गुरु को चाहिये कि वह पूर्वोक्त मण्डल के चारों ओर पंचम पटलोक्त अंकुरित शाली, कंगु, श्यामाक आदि से युक्त मंगल-पात्रों को स्थापित करके हवन-कुण्ड को गोमय से लीप कर उसके पास अपने चरण की माप की भूमि पर रेखाएं खींच कर योग-विष्टर का निर्माण करके 'ओं ह्रीं वागीश्वरीवागीश्वरासनाय नमः' मन्त्र से योगविष्टर की पूजा करे, अथवा गुरु के उपदेशानुसार शिष्य षट्कोण के भीतर एक त्रिकोण का निर्माण कर उसमें 'प्राणाग्निहोत्र की विधि से 'आवसथीय' नामक अग्नि के स्थान को ऋतुमती, इन्द्रियातीत, जगन्मयी भगवती शक्ति की भावना कर ओंकार के उच्चारण के साथ उसकी योनि में सूर्यकान्त मणि अथवा अरणिमन्थन से उत्पन्न या श्रोत्रिय की अग्निशाला से लायी गई अग्नि की स्थापना कर, उसे—

"चित्पिंगल हन हन दह दह पच पच सर्वज्ञाज्ञापय स्वाहा"।

मन्त्र से प्रज्ज्वलित करके—

"अग्निं प्रज्ज्वलितं वन्दे जातवेदं हुताशनम्।
सुवर्णवर्णममलं समिद्धं विश्वतो मुखम्"।।

मन्त्र से अग्नि की स्तुति करने के बाद अग्निदेव के जिह्वामन्त्रों से लिंग, गुदा, मूर्धा, आस्य, नासा, नेत्र तथा सर्वांग में क्रमशः न्यास करना चाहिये।

कृते निवेद्ये च ततो मण्डलं परितः क्रमात्।
मंगलांकुरपात्राणि स्थापनीयानि मन्त्रिणा।।
उपलिप्य कुण्डमत्र स्वचरणयोग्या विलिख्य रेखाश्च।
अभ्युक्ष्य प्रणवेन प्रकल्पयेद् योगविष्टरं मन्त्री
अथवा पट् कोणावृत्तत्रिकोणके गुरुजनोपदेशेन
प्राणाग्निहोत्रविधिनाऽप्यावसथीयाह्वयेऽनलस्थाने।।
तत्राथो सदृतुमतीमतीन्द्रियाभां
संस्मृत्य सकलजगन्मयीं च शक्तिम्।
तद्योनौ मणिमवमारणेयकं वा

तारेणाक्षिपतु गृहोत्थमेव वाऽग्निम्।।
चित्पिंगलपदमुक्त्वा हनदहपचयुग्मकानि सर्वज्ञम्।
आज्ञापयाग्निजाये प्रभाष्य मनुनाऽमुनाऽनलं ज्वालयेत्।।
अग्निं प्रज्वलितं वन्दे जातवेदं हुताशनम्।
सुवर्णवर्णममलं समिद्धं विश्वतो मुखम्।।
अनेन ज्वलितं मन्त्रेणोपतिष्ठेद्धुताशनम्। (प्रपंचसारतन्त्र, ६/६५-७१)

सप्तजिह्वाओं के नाम एवं वर्ण

अग्नि की जिह्वाएं सात्विक, राजसिक तथा तामसिक तीन प्रकार की होती हैं। इनमें अपने-अपने नाम के अनुरूप वर्ण वाली जिह्वाओं में हिरण्या, गगना, रक्ता, कृष्णा, सुप्रभा, बहुरूपा तथा अतिरक्ता ये सात जिह्वाएं सात्विक, पद्मरागा, सुवर्णा, भद्रलोहिता, लोहिता, श्वेता, धूमिनी तथा करालिका नामक जिह्वाएं राजसिक एवं विश्वमूर्ति, स्फुलिंगिनी, धूम्रवर्णा, मनोजवा, लोहिता, कराला तथा काली नामक अग्निजिह्वाएं तामसिक मानी जाती हैं। सात्विक जिह्वाएं देवतादि की पूजा में, राजसिक जिह्वाएं काम्यकर्म में तथा तामसिक जिह्वाएं क्रूर प्रयोगों में श्रेष्ठ मानी जाती हैं। वास्तव में, सुर, पितृ, गन्धर्व, यक्ष, नाग, पिशाच तथा राक्षस हविभाग के लिये क्रम से इन्हीं सप्तजिह्वाओं पर आश्रित हैं।

हिरण्या गगना, रक्ता कृष्णा चैव तु सुप्रभा।
बहुरूपाऽतिरक्ता च जिह्वा सप्तेति सात्विकाः।
पद्मरागा सुवर्णा च तृतीया भद्रलोहिता।
लोहिताख्या तथा श्वेता धूमिनी सकरालिका।।
राजस्यः कथिता जिह्वाः क्रमात् कल्याणरेतसः।
विश्वमूर्तिस्फुलिंगिन्यो धूम्रवर्णा मनोजवा।।
लोहिता च करालाख्या काली तामसजिह्विकाः।।
अनलेरार्धिबिन्द्वन्ताः सादियान्ताक्षरान्विताः।।
सात्त्विका दिव्यपूजासु राजस्य काम्यकर्मसु।
तामस्यः क्रूरकार्येषु प्रयोक्तव्याः विपश्चिता।।
सुराः सपितृगन्धर्वयक्षनागपिशाचकाः।
राक्षसाश्च क्रमादग्नेराश्रिता रसनास्वमी।।
जिह्वासु त्रिदशादीनां तत्तत्कार्यसमाप्तये।

जुहुयाद् वांछितां सिद्धिं दद्युस्ता देवता मताः।।
स्वनामसदृशाकाराः प्रायो जिह्वा हविर्भुजः।। (वही, ६/७३-८०)

अग्निदेव की प्रार्थना के पश्चात् मन्त्र एवं कर्मानुरूप अग्नि की इन्हीं जिह्वाओं में क्रमशः अनल (र्), इर (य), अर्घी (ऊ) तथा बिन्दु से युक्त (विलोम क्रम से) स से य पर्यन्त अक्षरों से युक्त जिह्वामन्त्रों से गुरु और शिष्य की देह के लिंग, गुदा, मूर्धा, मुख, नासा, नेत्र तथा सर्वांग में न्यास किया जाता है। जैसे यजनादि देवकार्यों में अग्नि की सात्त्विक जिह्वाओं का न्यास निम्न प्रकार से किया जायगा—

"स्र्य्रूं हिरण्यायै नमः लिंगे, ष्र्य्रूं गगनायै नमः पायौ,
श्र्य्रूं रक्तायै नमः शिरसि, व्र्य्रूं कृष्णायै नमः मुखे,
ल्र्य्रूं सुप्रभायै नमः नासिकायाम्, र्र्य्रूं बहुरूपायै नमः नेत्रयोः,
य्र्य्रूं अतिरक्तायै नमः सर्वांगे"।

ततः प्रविन्यसेद् देहे जिह्वामन्त्रैर्विभावसोः।
सलिंगगुदमूर्धास्यनासानेत्रेषु च क्रमात्।
ससर्वांगेषु जिह्वाश्च वक्ष्यन्ते त्रिविधात्मिकाः।। (वही, ६/ ७१-७२)

षडंगन्यास

सप्तजिह्वामन्त्र न्यास के उपरान्त सहस्रार्चि, स्वस्तिपूर्ण, उत्तिष्ठपुरुष, धूम्रव्यापिन्, सप्तजिह्व तथा धनुर्धर पदों से षडंगन्यास तथा अष्टमूर्ति न्यास करना चाहिये।

सहस्रार्चिः स्वस्तिपूर्ण उत्तिष्ठपुरुषस्तथा।
धूमव्यापी सप्तजिह्वो धनुर्धर इतीरितः।।
अंगमन्त्रान् क्रमादष्टमूर्तीश्चाऽथ प्रविन्यसेत्।। (वही, ६/८१.८२)

तदनुसार षडंगन्यास निम्नांकित प्रकार के होंगे—

"सहस्रार्चिषे हृदयाय नमः, स्वस्तिपूर्णाय शिरसे स्वाहा,
उत्तिष्ठपुरुषाय शिखायै वषट् , धूमव्यापिने कवचाय हुम् ,
सप्तजिह्वाय नेत्रत्रयाय वौषट् , धनुर्धराय अस्त्राय फट्"।

अष्टमूर्तिन्यास

षडंगन्यास के बाद क्रमशः मूर्धा, वामस्कन्ध, वामपार्श्व, वामकटि, लिंग,

दक्षकटि, दक्षपार्श्व एवं दक्षस्कन्ध में अग्नि की जातवेदस्, सप्तजिह्व, हव्यवाहन, अश्वोदरज, वैश्वानर, कौमारतेजस्, विश्वमुख तथा देवमुख नामक अग्नि की आठ मूर्तियों का न्यास इन नामों से पहले 'ओं अग्नये' तथा अन्त में 'नमः' पद लगाकर प्रदक्षिणा के क्रम अर्थात् बाएं से दायें करना चाहिये।

... .क्रमादष्टमूर्तीश्चऽथ प्रविन्यसेत्।
मूर्धांसपार्श्वकट्यन्धुकटिपार्श्वांसकेषु च।
प्रादक्षिण्येन विन्यस्येद् यथावद् देशिकोत्तम।
जातवेदाः सप्तजिह्वो हव्यवाहन एव च।।
अश्वोदरजसंज्ञश्च सवैश्वानर एव च।
कौमारतेजाश्च तथा विश्वदेवमुखाह्वयौ।।
स्युरष्टमूर्तयो वह्नेरग्नये पदपूर्विका।
प्रणवादि नमोऽन्ताश्च... (वही, ६/८२-८५)

अष्टमूर्ति न्यास

उपर्युक्त उल्लेखानुसार अष्टमूर्ति न्यास का स्वरूप निम्नांकित होगा—

ओं अग्नये जातवेदसे नमः (मूर्ध्नि),
ओं अग्नये सप्तजिह्वाय नमः (वामांसे)
ओं अग्नये हव्यवाहनाय नमः (वामपार्श्वे),
ओं अग्नये अश्वोदरजाय नमः (वामकटौ)
ओं अग्नये वैश्वानराय नमः (लिंगे),
ओं अग्नये कौमारतेजसे नमः (दक्षकटौ)
ओं अग्नये विश्वमुखाय नमः (दक्षपार्श्वे),
ओं अग्नये देवमुखाय नमः दक्षांसे।

अग्निदेव की आवरण-पूजा

न्यासों के पश्चात् अग्निदेव की आवरण-पूजा सम्पन्न की जानी चाहिये। इसके लिये पहले ही निर्मित पूजा-पीठ पर षट्कोण बनाकर उसके चारों ओर की मुख्य दिशाओं में कुश-निर्मित चार आसनों को बिछाकर षट्कोण के मध्य में अग्निदेव, छहों कोणों में क्रमशः अग्नि की उक्त छह जिह्वाओं, अग्निदेव के पार्श्व में सातवीं (अतिरक्ता) जिह्वा, केसरों में अंगमन्त्रों, छह कोणों से बाहर अग्नि की अष्टमूर्तियों (मूर्तियों के बाहर अष्टमातरों तथा भैरवादि) की पूजा

उनके मन्त्रों से करनी चाहिये। अग्निदेव की पूजा 'वैश्वानर जातवेद इहावह लोहिताक्ष सर्वकर्माणि साधय स्वाहा' मन्त्र से करनी चाहिये। मन्त्रमहोदधि के अनुसार जिह्वामन्त्र के ऋषि भृगु, छन्दस् गायत्री, देवता पावक, बीज रं तथा शक्ति स्वाहा हैं।

......................पुनर्दर्भचतुष्टयैः।
दिक्क्रमात् संपरिस्तीर्य सम्यग्गन्धादिभिर्यजेत्।
मध्ये च कोणषट्के च जिह्वाभिः केसरेषु च।।
अंगमन्त्रैस्ततो बाह्ये चाऽष्टभिर्मूर्तिभिः क्रमात्।
ततोऽग्निमनुना तेन मन्त्रौ मध्ये च संयजेत्।।
वैश्वानरं जातवेदमुक्त्वा चेहावहेति च।
लोहिताक्षपदं सर्वकर्माणीति समीरयेत्।।
ब्रूयाच्च साधयेत्यन्ते वह्निजायान्तिको मनुः।। (वही, ६/८५-८८)

अग्निदेव का ध्यान

अग्निदेव के आवाहनादि षोडशोपचार पूजन के अनन्तर तीन नेत्रों वाले, रक्त वर्ण की केशराशि से सुशोभित सिर वाले, श्वेतवस्त्रधारी, रक्तवर्ण की देहवाले कमलासन पर विराजमान, अपने चार हाथों में से दाहिने हाथों में वरदमुद्रा तथा शक्ति एवं बाएं हाथों में स्वस्तिक तथा अभयमुद्रा धारण किये हुए एवं स्वर्णमाला से विभूषित अग्निदेव का ध्यान करना चाहिये।

त्रिनयनमरुणाप्ताबद्धमौलिं सुशुक्लांशुकमरुणमनेकाकल्पमम्भोजसंस्थम्।
अभिमतवरशक्तिस्वस्तिकाभीतिहस्तं नमत कनकमालालंकृतांसकृशानुम् ।।
(वही, ६/८६)

उपर्युक्त अग्नि-जिह्वाओं का वर्ण ज्वाला की भांति, अंगदेवता वराभयहस्त वाली तथा मूर्तियों के हाथों में शक्ति तथा स्वस्तिक है।

जिह्वा ज्वालारुचः प्रोक्ता वराभययुतानि च।
अंगानि मूर्तयः शक्तिस्वस्तिकोद्यतदोर्द्वयाः।। (वही, ६/६०)

न्यास एवं ध्यान के पश्चात् के अग्निदेव के स्थापन, तापन, अभिद्योतन, उद्योतन, उत्पवन तथा संप्लवन नामक छह संस्कारों (विशेष देखें विवरण में) को सम्पन्न कर विशुद्ध घृत से व्याहृतियों के साथ उच्चरित अग्निमन्त्र से तीन बार हवन करना चाहिये।

संस्कृतेन घृतेनाऽभिद्योतनोद्योतितेन च।
व्याहृत्यनन्तरं तेन मनुना जुहुयात्त्रिशः।। (वही, ६/६१)

अग्निदेव के गर्भाधानादि संस्कार

इसके बाद अग्निदेव का "अस्य अग्नेः गर्भाधानसंस्कारं करोमि स्वाहा, अस्य अग्नेः सीमन्तोन्नयनसंस्कारं करोमि स्वाहा" आदि मन्त्रों से गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, उपनिष्क्रमण, अन्नप्राशन, चौल, उपनयन तथा विवाह आदि संस्कार सम्पन्न करने चाहिए। प्रत्येक संस्कार में व्याहृतियों से युक्त अग्निमन्त्र के अन्त में 'वौषट्' लगाकर(ओं भूः भुवः स्वः वैश्वानर जातवेद इहावह लोहिताक्ष सर्वकर्माणि साधय स्वाहा वौषट् आदि) आठ घृताहुतियां देनी चाहिए। इसके बाद अग्निदेव के माता-पिता वागीशी एवं वागीश की पूजा करके उन्हें अपने हृदय में स्थापित कर ('ततः पितरौ सम्पूज्य आत्महृदये स्थापयित्वा समिधो जुहुयात्' इति विवरणे) अग्निजिह्वाओं तथा अग्निमूर्तियों के मन्त्रों से एक-एक आहुति षट्कोण के मध्य में स्थापित अग्निदेव तथा उक्त छह जिह्वाओं तथा समस्त मन्त्रों से षट्कोण के मध्य में स्थित 'अतिरक्ता' नामक जिह्वा में एक आहुति देकर अग्निपूजा सम्पन्न करनी चाहिये।

गर्भाधानादिका वह्नेः समुद्वाहावसानिकाः।
क्रियास्तारेण वै कुर्यादाज्याहुत्यष्टकैः पृथक्।।
जिह्वांगमूर्तिमनुभिरेकाहुत्या हुनेत्ततः।
जिह्वायां मध्यसंस्थायां मन्त्री ज्यालावलीतनौ।। (वही, ६/६२-६३)

गणपति-पूजन

अग्निदेव की पूजा सम्पन्न कर लेने के बाद विघ्नविनाशक भगवान् गणपति की पूजा गणपति मन्त्र 'ओं श्रीं ह्रीं क्लीं ग्लौं गं गणपतये वरवरद सर्वजनं मे वशमानय स्वाहा' से करनी चाहिये। भगवान् गणपति का यह मन्त्र कल्पवृक्ष के समान समस्त सम्पत्तियों का देने वाला है।

तारः श्रीशक्तिमारावनिगणपतिबीजानि दण्डीनि चोक्त्वा।
पश्चाद्विघ्नं चतुर्थ्या वरवरदमथो सर्वयुक्तं जनं च।
आभाष्य क्ष्वेलमेन्तं वशमिति च तथैवाऽऽनयेति द्विठान्तः ।।
प्रोक्तोऽयं गाणपत्यो मनुरखिलविभूतिप्रदः कल्पशाखी।।

(वही, १७/२)

हवन

गणपति मन्त्र के 'ओम्, श्रीं, ह्रीं, क्लीं, ग्लौं, गं, गणपतये, वरवरद, सर्वजनं मे, वशमानय स्वाहा'(अत्र वशमानय स्वाहा इत्ययं दशमो भेद इति दीपिकायाम्) ये दस अंग हैं। पूर्व-पूर्व भेदों से युक्त गणपति के उक्त मन्त्र से एक-एक आहुति दी जानी चाहिये। यथा—

ओं स्वाहा,
ओं श्रीं स्वाहा,
ओं श्रीं ह्रीं स्वाहा,
ओं श्रीं ह्रीं क्लीं स्वाहा,
ओं श्रीं ह्रीं क्लीं ग्लौं स्वाहा,
ओं श्रीं ह्रीं क्लीं ग्लौं गं स्वाहा,
ओं श्रीं ह्रीं क्लीं ग्लौं गं गणपतये स्वाहा,
ओं श्रीं ह्रीं क्लीं ग्लौं गं गणपतये वरवरद स्वाहा,
ओं श्रीं ह्रीं क्लीं ग्लौं गं गणपतये वरवरद सर्वजनं मे स्वाहा,
ओं श्रीं ह्रीं क्लीं ग्लौं गं गणपतये वरवरद सर्वजनं मे वशमानय स्वाहा

तदनन्तर समस्त गणपति मन्त्र से चार तथा इष्ट मन्त्र से २५ घृताहुतियां दी जानी चाहिये। आचार्य शंकर का कहना है कि अग्नि देवता की तृप्ति के लिये सभी प्रकार के हवनों में इसी विधि का पालन किया जाना चाहिये। विशेषरूप से तान्त्रिक हवनों में इसी विधि को अपनाने का नियम है।

ताराद्यैर्दशभिर्भेदैः पूर्वपूर्वसमन्वितैः।
मनुना गाणपत्येन हुनेत्पूर्वं दशाहुतीः।।
जुहुयाच्च चतुर्वारं समस्तेनैव तेन तु।
आज्येन साध्यमनुना पंचविंशतिसंख्यकम्।।
जुहुयात्सर्वहोमेषु सुधीरनलतृप्तये।।
तान्त्रिकाणामयं न्यायो हुतानां समुदीरितः।। (वही, ६/६४-६६)

कलशपूजा, अग्निस्थापन तथा पूजन एवं गणपति-पूजन के पश्चात् अपने साध्यमनु अर्थात् जिस मन्त्र का उसने जप किया है या करना चाहता है, जो साधक का अपना इष्ट मन्त्र है, उस मन्त्र से घृत से युक्त दूध-भात अथवा वह जिस साधना में लगा है, उसके विधान के लिये निश्चित द्रव्यों की आठ हजार

अथवा आठ सौ आहुतियां साध्यमन्त्र से देकर अभिसिंचन के साथ मुख्य हवन कर्म की समाप्ति करे।

पुनः साध्येन मनुना हुनेदष्टसहस्रकम्।
अथवाऽष्टशतं सर्पिःसंयुक्तेन पयोऽन्धसा।।
द्रव्यैर्विधानप्रोक्तैर्वा महाव्याहृतिपश्चिमम्।
पुनः समापयेद् होमं परिषेकावसानकम्। (वही, ६/९७-९८)

महाव्याहृति हवन

मुख्य हवन समाप्त करने के बाद महाव्याहृति हवन करना चाहिये। महाव्याहृति हवन के मन्त्र निम्न हैं—

भूर्भुवःस्वः भूरग्नये च पृथिव्यै च महते च स्वाहा,
भूर्भुवःस्व भुवः वायवे च अन्तरिक्षाय च महते च स्वाहा,
भूर्भुवःस्वः स्वरादित्याय च दिवे च महते च स्वाहा,
भूर्भुवःस्वः भूर्भुवःस्वश्चन्द्रमसे नक्षत्रेभ्यो दिग्भ्यश्च महते स्वाहा।

भूर्भुवःस्वर्भूभुवःस्वः पूर्वं स्वाहान्तमेव च।
अग्नये च पृथिव्यै च महते च समन्वितम्।।
वायवे चान्तरिक्षाय महते च समन्वितम्।
आदित्याय च वै दिवे महते च समन्वितम्।।
चन्द्रमसे नक्षत्रेभ्यो दिग्भ्यश्च महतेऽन्वितम्।
महाव्याहृतयस्त्वेताः सर्वशो देवतामयाः।। (वही, ६/९९-१०१)
(विशेष द्रष्टव्य—विवरण एवं दीपिका)

ब्रह्मार्पण-विधि

महाव्याहृति-हवन के अनन्तर साधक को चाहिये कि वह कर्म-बन्धन से छुटकारा पाने के लिये—'इतः प्राणबुद्धिदेहधर्माधिकारतः जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यवस्थासु मनसा वाचा कर्मणा हस्ताभ्यां पद्भ्यामुदरेण शिश्ना च यत्स्मृतं यदुक्तं यत्कृतं तत्सर्वं ब्रह्मार्पणं भवतु स्वाहा' इस ब्रह्मार्पण मन्त्र से आठ आहुतियां दे।

ब्रह्मार्पणाख्यमनुना पुनरष्टावथाहुतीः।
जुहुयान्मन्त्रवर्येण कर्मबन्धविमुक्तये।।
इतः पूर्वं प्राणबुद्धिदेहधर्माधिकारतः।
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तीनामन्तेऽवस्थास्वितीरयेत्।।

ततश्च मनसा वाचा कर्मणेति प्रभाषयेत्।
हस्ताभ्यां च तथा पद्भ्यामुदरेणेति भाषयेत्।।
शिश्ना च यत्स्मृतं प्रोक्त्वा यदुक्तं यत्कृतं तथा।
तत्सर्वमिति संभाष्य ब्रह्मार्पणपदं वदेत्।।
भवत्वन्ते द्विठश्चाऽयं ब्रह्मार्पणमनुर्मतः।। (वही, ६/१०२-१०६)

नक्षत्रादि बलि

गुरु के निर्देशन में इस प्रकार हवन सम्पन्न कर लेने के पश्चात् साधक को चाहिये कि वह मण्डल में स्थित कलश के पास नक्षत्रों, राशियों, दिनों, राशियों के स्वामियों, ग्रहों, करणों आदि को 'अश्विनी भरणी कृत्तिकापादनक्षत्रमेष-राशिदेवताभ्यो दिवानक्तचारिभ्यः सर्वेभ्यो भूतेभ्यो नमः' आदि मन्त्रों द्वारा बलि प्रदान करके उक्त देवताओं को नैवेद्य अर्पित कर अष्टांग या पंचांग अथवा दोनों प्रकार से प्रणाम करे।

हुते तु देशिकः पश्चान्मण्डले बलिमारभेत्।।
नक्षत्राणां सराशीनां सवाराणां यथाक्रमम्।
दद्याद् बलिं गन्धपुष्पधूपदीपकमादरात्।।
ताराणामश्विनादीनां राशिः पादाधिकं द्वयम्।
मेषादिमुक्त्वा नक्षत्रसंज्ञापूर्वमनन्तरम्।।
देवताभ्यः पदं प्रोक्त्वा दिवानक्तं पदं वदेत्।
चारिभ्यश्चाऽथ सर्वेभ्यो भूतेभ्यश्च नमो वदेत्।।
एवं राशौ तु सम्पूर्णे तस्मिंतद्वत्प्रयोजयेत्।
तथा राश्यधिपानां च ग्रहाणां तत्र तत्र तु।।
सप्तानां करणानां च दद्यान्मीनाहूवमेषयोः।।
अन्तराले बलिस्त्वेवं सम्प्रोक्तः कलशात्मकः।।
पुनर्निवेद्यमुद्धृत्य पुरावत्परिपूज्य च।
मुखवासादिकं दत्वा स्तुत्या तद्युक्तया पुनः।।
स्तुत्या यथावत्प्रणमेद्भक्तियुक्तस्तु साधकः।
अष्टांगं वापि पंचांगमुभाभ्यां या समाहितः।। (वही, ६/१०६-११३)
(विशेष द्रष्टव्य—विवरण एवं दीपिका)

अष्टांग एवं पंचांग प्रणाम

हाथों, पैरों, घुटनों, सिर, आंखों, वाणी तथा मन इन आठ अंगों से एक

साथ किया गया नमन अष्टांग प्रणाम कहा जाता है। जबकि बाहों, घुटनों, सिर, वचन और बुद्धि से किये गये नमन को पंचांग प्रणाम कहते हैं। देवादि की अर्चना में इन दोनों प्रकार के प्रणामों को सर्वश्रेष्ठ माना जाता है।

दोर्भ्यां पद्भ्यां जानुभ्यामुरसा शिरसा दृशा।
वचसा मनसा चेति प्रणामोऽष्टांग ईरितः।।
बाहुभ्यां च सजानुभ्यां शिरसा वचसा धिया।
पंचांगकः प्रणामः स्यात्पूजासु प्रवराविमौ।। (वही, ६/११४-११५)

पूजा-कार्य में प्रणाम के नियम

यागादि कार्यों में गुरुपूजन से लेकर इन्द्रादि लोकेश पूजन पर्यन्त सभी नमस्कार मन्त्रों के आरम्भ में ओं तदनन्तर चतुर्थ्यन्त नाम और अन्त में नमः पद का प्रयोग किया जाता है, जैसे 'ओं शिवाय नमः' आदि। हवनादि अग्निकार्यों में मन्त्र के अन्त में 'द्विठान्त' अर्थात् 'स्वाहा' पद का प्रयोग होता है। पूजन में बीज मन्त्रों का प्रयोग बिना विभक्ति के ही किया जाता है।

गुर्वाद्यास्तारादिका यागमन्त्रा लोकेशान्तास्ते चतुर्थी नमोऽन्ताः।
पूजायामग्निकार्ये द्विठान्ता बीजैः पूजा स्याद् विभक्तया वियुक्तैः।।
(वही, ६/११६)

दक्षिणा

हवन तथा बलिकर्म समाप्त कर लेने के बाद साधक को चाहिये कि वह उदार हृदय से अपने गुरु तथा ब्राह्मणों को दक्षिणा प्रदान करे। दक्षिणा ब्रह्मार्पण की भावना से देनी चाहिये। यज्ञ कराने वाले ब्राह्मणों को वस्त्राभूषणादि प्रदान करना चाहिये। निर्धारित दक्षिणा में से आधा या चौथाई अथवा दशांश भाग गुरु को तथा शेष भाग दीक्षायज्ञ में भाग लेने वाले अन्य ब्राह्मणों को देना चाहिये। दक्षिणा स्वीकार करने के बाद गुरु और याज्ञिक ब्राह्मणों को चाहिये कि वे कलश में रखे गये उक्त औषधि-विपाचित जल से शिष्य का उसी प्रकार से अभिसिंचन करें, जिस प्रकार वर्णमन्त्रों द्वारा अभिमन्त्रित जल से कलश को भरा गया था।

वाससी च पुनरंगुलिभूषां होमकृत् सुमुखजप्रवरेषु।
ईश्वरार्पणमिति प्रति दत्वा वर्धितो द्विजमुखेरितवाग्भिः।।
नत्वा ततस्तनुभृते परमात्मने स्वं द्रव्यार्धमेव गुरवे चतुरंशकं वा।

दत्वा दशांशमथवापि च वित्तशाठ्यं हित्वाऽर्पयेन्निजतनुं तदधीनचेताः।।
अथ पटुरवमुख्यवाद्यघोषैर्द्विजमुखनिष्पतदाशिषां रवेण।
सुनियतमपि सुस्थितं च शिष्यं कलशजलैरभिषेचयेद् यथावत्।।
यथा पुरा पूरितमक्षरैर्घटैः सुधामयैः शिष्यतनौ तथैव तैः।
प्रपूरयन्मन्त्रिवरोऽभिषेचयेदवाप्तये मंक्षु यथेष्टसम्पदाम्।।

(वही, ६/११७-१२०)

मन्त्रदान

दक्षिणा अर्पण तथा अभिसिंचन के बाद शिष्य को चाहिये कि वह निर्मल वस्त्र धारण करके आचमन कर गुरु को नमस्कार कर उनके समीप बैठ जाय। गुरु अपने समीप बैठे हुए शिष्य के लिये निर्धारित मन्त्र को स्पष्ट रूप से तीन बार बोल कर मन्त्र-दीक्षा दे। शिष्य को चाहिये कि वह अपने गुरु, उपास्य देवता और गुरु द्वारा प्रदत्त मन्त्र में अभेद की भावना करता हुआ उस मन्त्र को उसी समय सौ बार जपे।

विमले परिधाय वाससी पुनराचम्य गुरुं प्रणम्य च।
निकटे समुपासते वदेदपि शिष्याय मनुं त्रिशो गुरुः।।
गुरुणा समनुगृहीतं मन्त्रं सद्यो जपेच्छतावृत्त्या।
गुरुदेवतामनूनामैक्यं सम्भावयन् धिया शिष्यः।।
मन्त्रे मन्त्रगुरावपि मन्त्री मन्त्रस्य देवतायां च।
त्रिषु विहितसततभक्तिः प्रेत्येह निजेप्सितं फलं लभते।।

(वही, ६/१२१-१२३)

शंकर के अनुसार गुरु से विधिपूर्वक प्राप्त किये गये मन्त्र की साधना से साधक इहलोक तथा परलोक में अपनी समस्त कामनाओं को प्राप्त कर लेता है, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं करना चाहिये। क्योंकि, संसार में मणियों, मन्त्रों और औषधियों का प्रभाव और शक्ति मानवीय चिन्तन से परे है।

संक्षेपादिति गदिता हिताय दीक्षा
जप्तॄणा प्रवरफलप्रदाऽचिराय।
प्राप्यैनां जपविधिरादरेण कार्यो
विद्वद्भिः सहुतविधिर्निजेष्टसिद्ध्यै।।
प्रोक्तेनैवं कलशविधिनैकेन वाऽनेककुम्भैः-
र्भक्त्या यो वा सुमतिरभिर्षिञ्चेन्नरो मन्त्रजापी।

कामान् प्राप्नोत्ययमिह परत्रापि किं तत्र चित्रं
लोकैश्चिन्त्यो न खलु मणिमन्त्रौषधीनाम् प्रभावः।।

(वही, ६/१२४-१२५)

आचार्य शंकर ने प्रपंचसारतन्त्र के पांचवें तथा छठे पटल में विस्तारपूर्वक दीक्षा-विधान का सांगोपांग वर्णन करते हुए कहा है कि उनके द्वारा वर्णित दीक्षा विधि तान्त्रिक परम्परा की है—तान्त्रिकानामयं न्यायो हुतानां समुदीरितः।

सामान्यतया शंकरोक्त दीक्षा-विधान का यथावत् अनुसरण कर पाना सरल नहीं है। किन्तु, इसका अर्थ यह भी नहीं है कि इस दीक्षा-विधि का अनुसरण किये बिना मन्त्रदीक्षा दी ही नहीं जा सकती। शक्तिपात आदि दीक्षा की कई ऐसी विधियां हैं, जिनमें बाह्य विधानों की आवश्यकता नहीं होती। अधिकारी शिष्य को समर्थ गुरु बिना किसी बाह्यपूजा-विधान के ही केवल स्मरण, दृष्टिपात या स्पर्शमात्र से अनुग्रहीत कर सकता है। ध्रुव, प्रह्लाद तथा वाल्मीकि सहित कई ऐसे योग्य साधक हुए हैं, जिन्हें महान् गुरुओं ने बिना किसी बाह्य दीक्षा-विधान के ही अनुग्रहीत किया है। जरूरी नहीं कि कोई मानव गुरु ही किसी शिष्य को मन्त्रदीक्षा दे। अनेक उदाहरण हैं जब दैवी शक्तियों ने प्रत्यक्ष या स्वप्न में साधक को मन्त्र-दीक्षा दी है। यदि शिष्य अपने भीतर शिष्यत्व की योग्यता लाये, तब महान् गुरु या दैवीशक्ति उसे अनुग्रहीत करने स्वयं आयेगी।

